यादों की दूर्बीन से....

जयंत नार्लीकर

जब हम दूर्बीन से ब्रह्माण्ड का दर्शन करते हैं तब हमें अतीत दिखाई देता है। खगोल निरीक्षक के कैमरे के पटल पर उमटा हुआ बिम्ब तारे की आज की स्थिति नहीं बताता बल्कि उस समय की जब बिम्ब उमटाने वाला प्रकाश वहाँ से निकल पड़ा था। प्रकाश स्रोत जितना अधिक दूर स्थित हो उतना ही उसका बिम्ब अधिक धूसर और अतीत से बनता है। इसीलिए जब हमारी विशाल दूर्बीने ब्रह्माण्ड के सुदूर अतीत का वेध लेती हैं तो उन्हें दिखाई देती है एक धूसर पार्श्वभूमि जिस पर टिमटिमाते हैं कुछ इने गिने प्रकाशवान् स्रोत।

यादों की पार्श्वभूमि कुछ ऐसी ही हुआ करती है। जितने सुदूर अतीत की ओर वह पहुँच जाती है, वहां से दिखाई देती हैं कुछ इनी गिनी घटनाएँ जिनका बिम्ब मानस पटल पर आज भी मौजूद है। ऐसी धूसर पार्श्वभूमि से निकली ये कुछ यादें.....

मधुर मनोहर अतीव सुन्दर.....

जो कभी भूली नहीं जा सकती—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रांगण में बीते मेरे बचपन की।

× × ×

एक धुंधली सी याद है एक दीक्षान्त समारोह की! बचपन में मैं और छोटा भाई अनन्त दोनों कभी-कभी माताजी के साथ उस विशाल एम्फीथियेटर जाते थे जहाँ साल में एक दफे दीक्षान्त समारोह हुआ करता था। वृत्त के चाप की तरह सीढ़ीनुमा यह स्थान हम बच्चों के लिए दौड़ लगाने के लिए मानों आदर्श था। इसीलिए हम उसे कहा करते थे 'दौड़ो दौड़ो'।

लेकिन उस दिन जब हम वहाँ माताजी के साथ पहुचे तो हमें पहले ही चेतावनी मिल चुकी थी। आज वहाँ बड़ा समारोह है जिसमें गांधी जी और नेहरूजी आयेंगे। बहुत भीड़ होगी। दौड़ने नहीं मिलेगा। हाँ, शान्ति से बैठोगे तो इन नेताओं को देख पाओगे।

गांधीजी और नेहरूजी! जिनके फोटो अक्सर अखबार में छपते थे? हाँ वे ही!

उत्सुकता से हम लोग निकल पड़े। 'दौड़ो दौड़ो' में भीड़ उमड़ पड़ी थी। नारे लग रहे थे। क्या यह वही शान्त जगह थी जहाँ अनन्त और मैं दौड़ लगाया करते थे? आज तो वहाँ खड़े होने को जगह नहीं थी।

माताजी को आशंका हुई, कहीं दंगा फसाद न हो। बोलीं "चलो घर चलें"। मेरा सवाल था :

लेकिन गांधीजी और नेहरूजी कहाँ हैं ? उन्हें देखना है।

हम लोग स्टेज के पास से निकल पड़े। महात्माजी तो नहीं दिखाई दिए पर माताजी ने दूर से दिखाया "वो रहे नेंहरूजी"। मैं पहचान पाया···बिलकुल अपने फोटो जैसे लगे।

जीवन में नेहरूजी को देखने का वही पहला और अन्तिम अवसर था ! फोटो या फिल्म पर नहीं···प्रत्यक्ष।

× × ×

एक और महापुरुष को निकट से देखने का अवसर मिला जब मैं कोई दस साल का था। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् कुछ अन्य अतिथियों सहित हमारे घर रात्रि भोजन के लिए आये थे। हमारे घर एक सीमेंट का बैडमिंटन कोर्ट था। भोजन पूर्व सभी अतिथि वहाँ बैठे चन्द्र प्रकाश में गपशप लगा रहे थे। एकाएक उन्हें सुनाई दिया :—

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायुः न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः।
अनैकान्तिकत्वात्सुषुप्त्येक सिद्धः तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥

क्या यह आकाशवाणी थी या ग्रामोफोन रेकार्ड ? अतिथि गपशप बन्द कर तन्मयता से सुनने लगे ·····

और कहीं अधिक तन्मयता से शंकराचार्य के इस दशःश्लोकी स्तोत्र का गायन कर रहे थे··· अनंत और मैं।

डा० राधाकृष्णन् जैसे महान् दार्शनिक एवं संस्कृत प्रेमी के सम्मान में इस स्तोत्र गायन का आयोजन किया था मेरे पिताजी ने। और माताजी के दिग्दर्शन में रिहर्सल के बाद हम दोनों उस दिन परीक्षा दे रहे थे।

और उस तपश्चर्या का फल मिला जब हमारे सम्माननीय अतिथि ने स्तोत्र पठन की भूरि भूरि प्रशंसा की। जिन अन्य अतिथियों ने सराहना की उनमें आज एक नाम याद आता है·····गोविंद जी (पंडित गोविंद मालवीय) का।

× × ×

हमारा बैडमिंटन कोर्ट बड़े-बड़े खिलाड़ियों का स्वागत कर चुका था, जिनमें राष्ट्रीय चैम्पियन टी० एन० सेठ भी थे। विश्वविद्यालय के तगड़े खिलाड़ी हर शाम खेलने आते थे। उनका खेल देखकर, कभी उनसे खेलकर हम दोनों भाई भी अच्छे खासे खिलाड़ी बने और ज्यूनिअर प्रतियोगिताओं में हमें सफलता भी मिलती थी। लेकिन हम पर हावी होते थे चडोण्ला ब्रदर्स·····आनन्द और ललित चण्डोला जो आगे चलकर प्रांतीय प्रतियोगिताओं में भी चमके।

बैडमिंटन के अतिरिक्त टेबल टेनिस एवं क्रिकेट में भी हम दोनों रस लिया करते थे। घर के प्रांगण म ही स्टंप लगाकर पड़ोसी बच्चों के साथ हमारी क्रिकेट मैचें हुआ करतीं थीं।

प्रारम्भ में प्रोत्साहित करने के लिए मेरे पिताजी ने प्रैक्टिस के लिए इनाम जाहिर किया। यदि मैं या मेरा भाई लेग या आफ स्टंप उखाड़ने में सफल हों तो हमारी गोलंदाजी के लिए एक रूपया इनाम और मिडिल स्टंप के लिए पाँच रुपये।

लेकिन हमारे सभी खेल थे मनोरंजन के लिए। न तो हम बने नन्दू नाटेकर या प्रकाश पदुकोण न तो सुनील गावसकर या कपिलदेव। फिर भी इन खेलों का रस ग्रहण करने का आनन्द हमें मिला बचपन के इन अनुभवों से।

× × ×

विश्वविद्यालय में स्कूली छात्रों के लिए गीता परीक्षा हुआ करती थी। मैं और अनंत दोनों परीक्षार्थी थे और दोनों ही पुरस्कारपात्र घोषित हुए। पुरस्कार कुलपति के हाथों दिये जाते थे। उन दिनों कुलपति थे आचार्य नरेन्द्र देव।

आचार्य जी के हाथों पुरस्कार मिलना हम दोनों के लिए गर्व की बात थी। पिताजी ने एक स्थानीय फोटोग्राफर से कहा कि वह पुरस्कार वितरण के अवसर पर फोटो ले। वह पुरस्कार समारोह में फ्लैश तथा कैमरा लेकर हाजिर हुआ। लेकिन, कारण चाहे कुछ भी हो, मेरे भाई को पुरस्कार मिलते वक्त उसका फ्लैश चला पर मेरे वक्त नहीं। मेरी फोटो काली-काली आई जिसे देख मैं बहुत उदास हुआ।

"कोई हर्ज नहीं·····तुम्हें पुरस्कार मिला यही महत्व की बात है। फिर अगले साल परीक्षा की दूसरी सीढ़ी में प्रयत्न करो। पुरस्कार प्राप्त करो, फिर फोटो खिचवा देंगे।" पिताजी ने सांत्वना दी। गीता का उपदेश है·····कार्य करो, फल की अभिलाषा मत रखो। लेकिन स्कूली छात्र गीता पढ़कर भी इसे कहाँ तक कार्यान्वित कर पायेगा ?

आखिर अगले साल मैंने फिर अगली परीक्षा दी और पुरस्कार प्राप्त किया। आचार्य जी के हाथों पुरस्कार लेने आया। फोटो लेने के लिए वही सज्जन हाजिर थे। लेकिन, विश्वास कीजिए या न कीजिए·····

उनका फ्लैश फिर उसी मौके पर फेल हो गया !

× × ×

बैडमिंटन कोर्ट मेरे पिताजी ने 1932 में विश्वविद्यालय आने के पश्चात् बनवाया था जो हमारे घर c/2 की (आज कल की जोधपुर कालोनी, ब्रोचा हास्टल के पीछे) खासियत थी। दूसरी खासियत थी ब्लैक बोर्ड की जो हमारी माताजी ने घर की दीवारों पर बनवाये थे। इस आशा से कि हम दोनों अपनी पढ़ाई में उनका भी इस्तेमाल करें। निश्चय ही यह एक उपयोगी कृति साबित हुई।

1950 में, जब मैं आठवीं कक्षा मे भर्ती हुआ मेरे मामा, मोरेश्वर हुजुरबाजार (जो बाद में कुछ साल विश्वविद्यालय में अध्यापक रहे, फिर बंबई की इंस्टिटचूट आफ सायंस

में गणित विभाग प्रमुख थे और अल्पायु में 1988 में स्वर्गवासी हुए) एम० एससी० गणित पढ़ने आये। वे हमारे घर ही रहते थे। ब्लैक बोर्ड देखकर, मेरी गणित में रुचि देख कर उन्हें एक नयी बात सूझी। एक दिन उन्होंने बोर्ड पर एक गणित का कूटप्रश्न लिखा और ऊपर लिखा "चैलेंज प्राब्लेम फार जे० व्ही० एन०"।

यह तो मेरे लिए चुनौती थी। मोरूमामा बोले जब तक तुम यह पहेली हल न करोगे तब तक बोर्ड पर लिखा मिटाया नहीं जायेगा। मैंने पहेली हल कर दी तो ऐसा लगा मानों दिग्विजय कर आया हूँ। लेकिन यह तो शुरुआत थी। मामाजी अब पीछा नहीं छोड़ने वाले थे। अगले दो चार साल यह आह्वानात्मक प्रश्नों की परम्परा बनी रही और पाठ्यपुस्तकों की सीमा पारकर गणित के विविधरंगी दर्शन मुझे उपलब्ध हुए।

× × ×

विश्वविद्यालय चार पाँच दशक पहले वास्तव में 'सर्व विद्या की राजधानी' रहा होगा। क्योंकि केवल 'तीन लोकों से न्यारी काशी' ही नहीं बल्कि विश्वविद्यालय का दर्शन करने देश विदेश के विद्वान आया करते थे। उनमें से कई हमारे घर भी पधारते थे। मेरी आयु इतनी बड़ी नहीं थी कि महत्ता जान सकूँ·····हाँ इतना तो अवश्य समझ पाता था कि ये अपने विषयों में दिग्गज विद्वान् हैं।

गणितज्ञों में दिल्ली के प्रोफेसर राम बिहारी (जो हमेशा वहाँ की 'घंटी वाला' की दूकान से खास मिठाइयाँ लाते थे), गौहाटी से प्रोफेसर थवानी (जिनके कुछ किस्से हम बच्चों के लिये भी थे), महाराष्ट्र से रैंगलर परांजपे एवं महाजनि (जिनके सामने हमारे पिताजी भी आदर से सर झुकाते थे)·····साहित्यिकों में कृष्णदेव प्रसाद गौड़ (याने 'लपटन पिगसन' वाले बेढब बनारसी), शिवमंगल सिंह 'सुमन' (जो बाद में विक्रम विश्व-विद्यालय के कुलपति रहे), एवं महाराष्ट्र से लेखक माधव दामोदर अलतेकर तथा नारायण सीताराम फडके·····संगीतकारों में नारायणराव व्यास, बामनराव पाध्ये.....संस्कृत पंडितों में पं० चिन्नस्वामी शास्त्री (जो संस्कृत में संभाषण, वार्तालाप करते थे), गाढे अभ्यासक व्यास जी (जो संस्कृत की लीलाएँ सुनाते थे)·····नाम परंपरा जितनी बढ़ाई जाय उतनी लंबी होती जायेगी।

अब समझ में आता है कि इस परंपरा के पीछे थी मेरे पिताजी की अपनी दूरगामी प्रतिभा जो काव्य शास्त्र विनोदेन अपने समय को सार्थक बनाती थी।

लेकिन पिता जी के सबसे निकटतम आत्मीय थे उनके ग्रंथ। पुस्तकों से हमारा घर फला फूला रहता था। अलमारियाँ मानों पुस्तकों की बाढ़ का मुकाबला करने में असमर्थ थीं जो कि यह बाढ़ टेबुल एवं चारपाइयाँ नापकर कभी-कभी फर्श पर की दरियों तक आ जाती।

छोटेपन के संस्मरणों में ऐसे भी दिन हैं जब पिताजी के साथ हम दोनों घूमते-घूमते गायकवाड पुस्तकालय पहुँचते। फिर पिताजी कहते·····तुम बाहर खेलो मैं अभी आता हूँ। वह 'अभी' लंबा होते-होते हमारे खेल को हरा देता। अंदर जाकर देखते तो या तो पिताजी ग्रंथपाल से वार्तालाप में मग्न हैं या किसी अलमारी के सामने पुस्तक में खो गये हैं।

शहर में घूमते समय भी वे गहनों कपड़ों या खिलौनों की दूकानों के बजाय पुस्तकों की दूकानों से आकर्षित होते। लंका की पुस्तकों की दूकाने उन्हें एक नियमित ग्राहक के रूप में पहचानती थीं। हाँ अगर वे किसी दूकान में हमें भी ले जाते तो उनके 'विल डुरांट या 'शोलेम आश' के साथ-साथ हमारे 'विनी द पूः' या किसी कहानी की पुस्तक का भी नंबर लग जाता।

पिताजी पुस्तकें खरीदते पर उन्हें पढ़कर सुनाती, माता जी। कहानियों की परंपरा ग्रिम्स फेअरी टेल्स से भले ही शुरू होय, सोने के वक्त माता जी ने पढ़कर सुनाई कहानियाँ आलिफ लैला, चंद्रकांता (हिंदी), शिवा जी महाराज एवं मराठों के इतिहास पर लिखे हरि नारायण आपटे एवं नाथ माधव के उपन्यास (मराठी) तथा शेरलाक होम्स, बुलडाग ड्रमंड की रहस्य कथाएँ या पी० जी० वुडहाउस एवं डब्लू डब्लू जेकब्स की हास्य रस प्रधान रचनाएँ (अंग्रेजी)·····आदि न जाने कितने साहित्य को हम बच्चों के सामने ला पाईं।

सुनने का पढ़ने में रूपान्तर कब और कैसे हुआ, कहना कठिन है। लेकिन धीरे-धीरे मैं भी पुस्तकों के आकर्षण में फँस गया·····और अभी तक फँसा हूँ! फिर भी मेरे पिता जी के सर्व विषय व्यापी पठन के आगे मेरी आज भी कोई गिनती नहीं।

शायद पुस्तकों से ऐसी गहरी मित्रता एक कारण हो सकती है कि मेरे पिता जी एक लोक प्रिय वक्ता भी थे जो प्रसंगानुरूप अपने पठन भंडार से सूक्तियाँ, किस्से आदि सुनाकर अपने श्रोताओं को मंत्रमुग्ध रखते। हास्टेलों के वार्षिक दिवस, कालेजों के कुछ विशेष अवसर या विश्वविद्यालय में किसी बाहरी विद्वान् का भाषण·····ऐसे मौकों पर पिता जी को अध्यक्ष या मुख्य वक्ता आदि के रूप में छात्र या अध्यापक निमंत्रित करते।

विश्वविद्यालय के सांस्कृतिक समारोहों की यादों में एक है इंजिनीयरिंग कालेज में हर वर्ष होने वाली प्रदर्शनी। 'यांत्रिक चमत्कार' देखने मैं और मेरा भाई अवश्य जाते। वहाँ छात्रों के बनाए माडल हम बच्चों के आकर्षण का विषय हुआ करते थे। बटन दबाओ और यंत्र का मजा देखो।

एक और परम्परा थी गीता लेक्चर की। श्रीमद्भगवद्गीता की गरिमा समझने के काबिल न होते हुए भी कभी-कभी हम लेक्चर सुनने जाया करते थे। आज स्मरण पटल पर धुंधली सी प्रतिमा है डा० राधाकृष्णन् के ओजस्वी वक्तृत्व की। ऐसी अन्य यादें हैं पद्मनारायण आचार्य जी के तुलसी रामायण पर हुए भाषणों की एवं स्वामी करपात्री जी के प्रवचनों की। आज खगोल शास्त्र मे दिखाई देने वाली कोटि-कोटि आकाश गंगाओं की जानकारी स्मरण दिलाती है स्वामी जी के प्रवचन में अक्सर आने वाले 'अनंत कोटि ब्रह्माण्डनायक' की।

और एक प्रतिभा जो नहीं भुलाई जा सकती वह है कालेज आफ म्यूज़िक ऐण्ड फाइन आर्ट्स के प्रिंसिपल पंडित ओंकार नाथ ठाकुर की। उनका गाया 'चदरिया, राम नाम रस भीगी' गीत जितना उनकी कसी रागदारी के लिये याद है उतना ही उनके गान तन्मय आविर्भावों के लिये।

फिर हम बच्चे जिस त्योहार की उत्सुकता से प्रतीक्षा करते थे वह होली और रंग उड़ाने का मौका क्योंकर भुलाया जा सकता है ? हम दोनों और हमारे सहपाठी 'पानी वाले' रंग उड़ाते तो कालेज के छात्र गुलाल लेकर हमारे पिताजी को लाल बनाते ! एक याद है जब पिताजी उपकुलपति थे। आने वाले छात्रों के लिये लड्डू लाकर रखे थे। लेकिन गणित के प्रोफेसर होते हुए भी उनका अपनी लोकप्रियता का हिसाब गलत निकला। उन्होंने कहा था प्रत्येक छात्र को चार लड्डू देना। लेकिन इतने छात्र आने लगे कि यह संख्या चार से दो और फिर एक लड्डू प्रति छात्र तक लानी पड़ी। नहीं तो मँगाए लड्डू पर्याप्त न होते !

× × ×

यह यादों की बारात तब तक नियोजित स्थान पर नहीं पहुँचेगी जब तक स्कूल होकर न जाय !

'युनिवर्सिटी चिल्ड्रेन्स स्कूल' (जो आज केंद्रीय विद्यालय बना है) हमारे घर से कोई दस बारह मिनट के रास्ते पर था। अभी वह 'पहला' दिन याद है जब मेरे माता पिता मुझे (और छोटे भाई को) लेकर स्कूल गये। 'इन्फैण्ट' क्लास में 'बहिन जी' ने मेरा चार्ज लिया। पहले तो मैं खुश था···लेकिन छोटे भाई को माता पिता सहित घर लौटते देखा तो समझ गया कि अब मैं यहाँ फँस गया। लेकिन बहिनजी (श्रीमती खष्टी देवी) ने मुझे लाड़ प्यार से वहाँ के खेलों में लगाया और मैं अपनी व्यथा भूल गया। यह लाड़ प्यार मुझे उनसे सदैव मिलता गया···स्कूल छोड़ने पर भी !

उस समय स्कूल केवल छठवीं कक्षा तक था। जब मैं पाँचवीं तक पहुँचा तब वह सातवीं तक बढ़ाया गया। फिर यही सिलसिला चालू रहा और मेरे आठवीं कक्षा में पहुँचते-पहुँचते दशवीं याने मैट्रिक तक स्कूल पहुँच गया। फिर भी आज के मुकाबले छात्रों की संख्या कुल मिलाकर चार सौ से अधिक नहीं थी।

स्कूल की यादें काली सफेद दोनों होती हैं। आनन्द के वे क्षण जब रिज़ल्ट निकलता और मैं सर्वप्रथम घोषित होता। दुःख के भी क्षण थे। जैसे वह दिन जब हम सभी छात्र आखिरी पीरियड में घर भाग गये क्योंकि पीरियड ड्रिल का था और ड्रिल मास्टर नहीं आये थे। दूसरे दिन हेड मास्टर साहब ने मुझे बुलाया और समझाया "तुम तो क्लास के प्रीफेक्ट हो तुमसे ऐसी गैर जिम्मेदारी की अपेक्षा नहीं थी"। तब समझ में आया कि अधिकार के साथ जिम्मेदारियाँ भी निभानी पड़ती हैं।

× × ×

आज भूत की ओर सिंहावलोकन करते समय मैं अपने भाग्य को सराहता हूँ कि मेरा बचपन ऐसे समय ऐसी जगह बीता। वास्तव में वह बी० एच० यू० का स्वर्ण युग था। 'ते हि नो दिवसा गताः' कहते समय मैं यह भी विश्वास प्रकट करना चाहूँगा कि वे सुनहले दिन इस महान विश्वविद्यालय में फिर लौटेंगे।

—:०:—